

## चतुर्थ अध्याय

विनयपत्रिका के पदों का विषयानुसार विवेचन

'विनयपत्रिका' सम्पूर्ण भक्ति साहित्य में अन्तर्निहित विनय भावना का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। कुछ विद्वान इसे गोस्वामी तुलसीदास की सबसे प्रौढ़ रचना मानते हैं। तुलसीदास की भक्ति-पद्धति और उनकी वेदना को समझने के लिए यह सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि 'विनयपत्रिका' में अभिव्यक्त तुलसी की शरणागति की प्रार्थना शास्त्रबद्ध नहीं है। इसे एक सीमा तक शास्त्रसम्मत कहा जा सकता है। प्रपत्तिशास्त्र के लक्षणों को सामने रखकर उनके उदाहरण के रूप में 'विनयपत्रिका' के पद नहीं लिखे गये हैं, यद्यपि शास्त्रीय लक्षणों का सहज अन्तर्भाव इसमें हो गया है। विष्णुकान्त शास्त्री के अनुसार—“अपने जीवन के उत्तरार्द्ध के दीर्घ कालखण्ड में मुक्तकों की तरह समय-समय पर रचित इन पदों को आदि और अंत की अभिकल्पना से 'विनय-पत्रिका' का रूप देते समय भी तुलसी ने उसके मध्य और मुख्य भाग को किसी विशेष अनुक्रम में न बाँधकर हृदयोद्गार की स्वच्छंदता को अक्षुण्ण रहने दिया है। पर यह भी सच है कि इन पदों में शास्त्रीय तत्त्व का अन्तर्भाव सहज ही हो गया है।”<sup>1</sup> 'विनयपत्रिका' तुलसी की 'हिय हेरि', 'हिय हारि', 'हिय हहरि' है। वे स्पष्ट कहते हैं—“तू हिय की आँखिन हेरि” (पद-190)। यह तुलसीदास की आत्म-समीक्षा है। इसका प्रतिपक्ष कलियुग है। कलियुग के आतंक से पीड़ित होकर कवि ने पूरे समाज के प्रतिनिधि के रूप में विनय की अर्जी राजाधिराज श्रीराम के दरबार में पेश की है। इसमें तुलसीदास कोई कथा न कहकर सीधे राम से निवेदन करते हैं। 'हृदय पद्धति' कि इस रचना में भक्त और उसके आराध्य का सम्बन्ध 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब' का है—'तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु -सो ज्यों दरपन मुख-काँति' (पद-233)। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार—“चरम महत्त्व के इस भव्य मनुष्य ग्राह्य रूप के सम्मुख भाव-विह्वल भक्त-हृदय के बीच जो-जो भाव-तरंगें उठती हैं, उन्हीं की माला यह 'विनयपत्रिका' है। महत्त्व और इन भाव-तरंगों की स्थिति परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब समझनी चाहिए। भक्त में दैन्य, आत्म-समर्पण, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि, अनुत्ताप, आत्म-निवेदन आदि की गम्भीरता उस महत्त्व की मात्रा के अनुसार समझिए। महत्त्व का जितना ही सान्निध्य प्राप्त होता जायेगा—उसका जितना ही स्पष्ट साक्षात्कार होता जायेगा—उतना ही अधिक स्फुट इन भावों का विकास होता जायेगा और इस पर महत्त्व की आभा चढ़ती जायेगी। मानो ये भाव महत्त्व की ओर बढ़ते जाते हैं और महत्त्व इन भावों की ओर बढ़ता आता है। इस प्रकार लघुत्व का महत्त्व में लय हो जाता है।”<sup>2</sup>

उपदेश, वाद या तर्क गोस्वामी जी के अनुसार 'वाक्य-ज्ञान' मात्र कराते हैं, जिससे जीव-कल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं होता। 'वाक्य-ज्ञान' और बात है और अनुभूति दूसरी बात—

वाक्य-ज्ञान' अत्यंत निपुण भव-पार न पावै कोई।  
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥

—विनय-पत्रिका, पद-123

कुछ पदों में दार्शनिक सिद्धान्तों की थोड़ी-सी चर्चा भी मिलती है—

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोउ..... —पद-111

तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख संसय सोक अपारा ? —पद-124

मैं तोहिं अब जान्यों, संसार!

देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किए बिचार। —पद-188

इनका उल्लेख गौण ही समझना चाहिए। तुलसीदास का स्पष्ट मत है कि सर्वोपरि चीज श्री राम कृपा है। 'विवेक' एक साधन है जरूर लेकिन यह भी राम कृपा पर ही आश्रित है। जगत् मिथ्यावाद के सन्दर्भ में भी तुलसीदास ने जहाँ संसार को असत्य मानकर भ्रम का प्राबल्य दिखाया है, वहाँ भी वे ज्ञान और स्वयंसिद्ध पुरुषार्थ का स्तवन करने की जगह सर्वत्र यही दिखाते हैं कि —

तुलसीदास प्रभु मोह सृङ्खला छूटिहि तुम्हरे छोरे।

तुलसीदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं।

बिन तव कृपा दयालुदास हित मोह न छूटै माया।

इत्यादि। (3)

यह 'विवेक' हरि एवं गुरु की करुणा के बिना नहीं हो सकता—

तुलसीदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल विवेक न होई।

बिनु विवेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई॥

—पद-115

अपनी साधनहीनता की घोषणा वे बार-बार करते हैं। वे यह नहीं कहते कि ये साधन झूठे हैं, पर यह अवश्य कहते हैं कि इस घोर कलिकाल में मेरे जैसे अपदार्थ से कोई साधन सधता ही नहीं—

सुगुन, ज्ञान, विराग, भगति सुसाधननि की पाँति।

भजे बिकल त्रिलोकि कलि अघ-अवगुननि की थाती॥ —पद-221

ग्यान-भगति साधन अनेक, सब सत्य, झूठ कछू नाहीं।

तुलसीदास हरि-कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मनमाहीं ॥ पद-116

यहां ध्यातव्य है कि अन्य साधनों के साथ-साथ तुलसीदास भक्ति को भी अपना अवलम्ब नहीं मान पा रहे हैं। यही साधनहीनता तुलसी को शरणोन्मुख करती है—

ताहिं ते आयो सरन सबेरे।

ज्ञान-बिराग-भगति साधन कछु सपनेहु नाथ न मेरे॥

— पद-187

शास्त्रीय शब्दावली में कह सकते हैं कि “तुलसी प्रपत्ति ग्रहण कर प्रसाद के रूप में भगवान से भक्ति पाना चाहते हैं, भक्ति करने का दावा नहीं करते। ‘तुलसीदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहाँगो’ पद-172 ‘जोग, जप, ज्ञान, विज्ञान तें अधिक अति, अमल दृढ़ भगति दै परम सुख भरहुंगे’ (पद-211) आदि वचनों से यह स्पष्ट है कि राम कृपा से वे अपना परम काम्य ‘हेतु रहित अनुराग रामपद’ प्राप्त करना चाहते हैं।”<sup>4</sup> साधनहीनता के साथ ही अपनी क्रियाहीनता पर भी तुलसी ने जगह जगह पर शोक किया है। केवल रोग के अनुकूल चिकित्सा ही नहीं की गई होती तो भी संभवतः इतना परिताप न होता, किन्तु रिथति यह है कि आचरण उसके नितांत प्रतिकूल हुए हैं। कराल कलिकाल ने रामनाम को छोड़ कर समस्त साधनों को निष्प्रभ कर दिया है। जिससे आगे से ही कठिन कर्ममार्ग और कठिन हो गया है। इस परिप्रेक्ष्य में ‘विनय पत्रिका’ के पदों में ‘कृपा’ की प्रधानता है, ‘क्रिया’ की नहीं। इस संबंध में ‘विनय-पत्रिका’ के पदों का विवेचन करते हुए विष्णु कांत शास्त्री ने लिखा है—

“कृपा क्रिया से पूर्णतः स्वतंत्र है, किंतु अपने भले के लिए भक्त को अपनी ओर से अपने नेम का निर्विघ्न पालन करना चाहिए और भगवान से प्रार्थना करते रहना चाहिए कि वे उसके आचरण की ओर देख कर नहीं, अपने नाम प्रताप गुण स्वभाव की ओर..... एक शब्द में अपनी ओर देख कर उस पर कृपा करें। इस सिद्धांत से कृपा की पूर्ण स्वतंत्रता भी अक्षुण्ण रहती है और उसमें क्रिया का भी समाहार हो जाता है।”<sup>5</sup>

तुलसीदास की इस साधनहीनता का सामाजिक पक्ष भी है। रामविलास शर्मा के अनुसार सामंती समाज का सबसे बड़ा दुर्गुण होता है—‘निष्क्रियता’। तुलसी का साहित्य निष्क्रियता का साहित्य नहीं है। उनकी साधनहीनता, क्रियाहीनता के बार-बार उल्लेख को मध्यकालीन व्यवस्था जिसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ‘जबदी हुई मनोवृत्ति’ कहा है, के संदर्भ में देखने की जरूरत है। “‘तुलसी-साहित्य’ एक ओर आत्मनिवेदन और विनय का साहित्य है, दूसरी ओर वह प्रतिरोध का साहित्य भी है। हमारे समाज पर गोस्वामी तुलसीदास का इतना गहरा प्रभाव है कि आज यह कल्पना करना कठिन है कि तुलसीदास ने अनेक प्रचलित मान्यताएं अस्वीकार करके यह साहित्य रचा था। वह राम के सम्मुख ही विनम्र और करुण स्वर में बोलने वाले कवि हैं औरों के आगे सर हमेशा ऊँचा रखते हैं। वे आत्मत्याग करने वाले को सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति मानते हैं।”<sup>6</sup> समसामायिक राजा, महाराजा, सामंत आदि की तीखी आलोचना करने वाले कई पद

'विनयपत्रिका' में हैं साहब तो घर घर में भरे हुए हैं, लेकिन सभी को अपना ही दांव सूझता है -

हैं घर-घर बहु भरे सुसाहिब, सूझत सबनि आपनो दाऊँ।  
बानर-बंधु विभीषन-हितु बिनु, कोसलपाल कहूँ न समाऊँ ॥

(पद-153)

सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाये।  
कोसलपालु कृपालु कलपतरु, द्रवत सकृत सिर नाये ॥ -पद-163

भली भाँति-पहिचाने-जाने साहिब जहाँ लौँ जग,

जूड़े होत थोरे, थोरे ही गरम ।

प्रीति न प्रवीन, नीतिहीन, नीति के मलीन,

मायाधीन सब किये कालहू करम ॥

-पद-249

जाँचौँ जल जाहि कहै अमिय पियाउ सो ।

कासों काहौँ काहु सों न बढ़त हियाउ सो ॥

पद-182

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?

हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार, परी न छार, मुह बायो ॥

पद-276

इस श्लासक वर्ग के प्रतिपक्ष में राम का चरित्र है। राम का सबसे बड़ा गुण इन टुच्चे राजाओं का निरादर एवं दीनहीनों का सम्मान है- 'निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई।' 'विनयपत्रिका' के राम दीनबन्धु एवं गरीबनिवाज हैं। ये दो विशेषण तुलसी को सर्वाधिक प्रिय हैं जिनका स्वर साद्यन्त सुना जा सकता है- 'ऐसे राम दीन हितकारी' (166), 'तुम सम दीनबन्धु न दीन कोउ.....' (242), 'दीनबंधु! दूर किये' (257), 'दीनबंधु, दूसरो कहँ पावों' (232), 'दीन उद्धरण रघुर्वय' (59), 'दीन को दयालु दानि' (78), 'दीनदयालु दिवाकर देवा' (2), 'दीनदयालु, दुरित दारिद दुख' (139) जैसे कई पदों में राम के इसी स्वरूप की विवेचना की गई है। तुलसीदास ने राम में उन गुणों का समावेश किया जो मध्यकाल में दुर्लभ थे। प्रभु श्रीराम के इसी गुण के कारण तुलसी उनसे अपना संबंध जोड़ते हैं -

तू दयालु, दीन हौँ, तू दानि, हौँ भिखारी

हौँ प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी ॥

पद-79

तू गरीब को निवाज, हौँ गरीब तेरो ।

बारक कहिये कृपालु ! तुलसिदास मेरो ॥

पद-78

तुम सम दीनबंधु, न दीन कोउ मो सम, सुनहु नृपति रघुराई ॥ पद-242  
 नामसों निबाह नेहु, दीन को दयालु ! देहु,  
 दासतुलसीको, बलि, बडो बरु है ॥ पद-255  
 इहै जानि तुलसी तिहारो जन भयो,  
 न्यारो कै गनिबो जहाँ गरीब गुलाम ॥ पद-77  
 दीनबंधु ! दूरि किये दीनको न दूसरी सरन।  
 आपको भले हैं सब, आपनेको कोऊ कहूँ  
 सबको भलो है राम ! रावरो चरन ॥ पद-257

‘सबको भलो है राम ! रावरो चरन’। ये ‘सब जन’ कौन हैं — ‘पाहन, पसु, पतंग, कोल, भील, निसिचर’ आदि ये ‘खिन्न’ लोग हैं। जिनका कहीं आश्रय नहीं है। अध्याय तृतीय में तुलसी के समय के समाज की विवेचना में यह दिखाया जा चुका है कि विषमता से ग्रस्त मध्यकालीन समाज में गरीबों और किसानों की कैसी स्थिति थी। उस परिवेश को सामने रखने पर तुलसी के ‘दीनदयाल’ और ‘गरीबनिवाज’ का संदर्भ स्पष्ट हो जाएगा — ‘राम गरीबनेवाज ! भए हौ गरीबनेवाज गरीबनेवाजी’ (कवितावली/उत्तरकांड, छंद-95)। ‘विनयपत्रिका’ के राम ‘दानि-सिरोमनि’ भी हैं —

एकै दानि-सिरोमनि साँचो।  
 जोड़ जाच्यो सोड़ जाचकतावश, फिरि बहु नाच न नाचो ॥ पद-163  
 ऐसो को उदार जग माहीं।  
 बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं ॥ पद-162

यह दरबार ऐसा है जिसमें लोग बिना जोते-बोये भी पा लेते हैं। लेकिन जब यहां भी देर होती है, तो तुलसी गुहार लगाते हैं —

कृपासिंधु ! जन दीन दुवारे दादि न पावत काहे।  
 जब जहँ तुमहिं पुकारत आरत, तहँ तिन्हके दुख दाहे ॥ पद-145  
 दीनदयालु दीन तुलसीकी काहु न सुरति कराई ॥ पद-165  
 कहँ लागि कहों दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी।  
 कलिमल-ग्रसित दासतुलसीपर, काहे कृपा बिसारी ॥ पद-166  
 जितो दुराव दासतुलसी उर क्यों कहि आवत ओतो।  
 तेरे राज राय दशरथ के, लयो बयो बिनु जोतो ॥ पद-161

सिर्फ राजा-महाराजा ही नहीं, अपितु सारे सगे-संबंधियों की भी यही दशा है। जैसे तिलों में फूल रख-रखकर सुगंधमय बनाते हैं; किंतु तेल निकाल लेने पर खली को व्यर्थ समझकर फेंक देते हैं, वैसे ही संबंधियों की दशा है। इस पृथ्वी पर ऐसे स्वार्थी भरे पड़े हैं जिनका मन काला है और शरीर सफेद है (पद-190)। सारे नये-नये प्रेम और संबंध व्यर्थ और नीरस हैं तथा उल्टे शरीर को जलाने वाले और प्राणों के ग्राहक हैं -

जोरे नये नाते नेह फोकट फीके। देह के दाहक, गाहक जी के॥ पद-176

तुलसी अन्तः और बाह्य दोनों स्तरों पर अपनी निस्साधनता की घोषणा करते हैं। व्यक्तिगत स्तर पर वे कहते हैं कि न तो मेरी करनी अच्छी है, न स्वभाव उत्तम है और न समय ही अनुकूल है, न कोई मालिक है, न कहीं कोई ठौर-ठिकाना है, न साधन रूपी धन है, न नीरोग शरीर है, न निश्चल चित्त है और न लम्बी आयु ही है (पद-182)।

सुहृदों का समाज कपट भरा है मित्र मंडली दगाबाज है। देवता चतुर हैं। एक करोड़ लेकर एक लौटाते हैं। कर्म-धर्म परिश्रम मात्र है। उनका करना राख में हवन करने या ऊसर जमीन पर पानी बरसाने के समान हैं। (पद-264)। कर्म, उपासना, ज्ञान, वेदमत इन सबको कलिकाल ने ग्रस रखा है। यह मध्यकाल की विचारधारात्मक शून्यता का द्योतक है -

जोग, जाग, जप, विराग, तप, सुतीरथ-अटत।

बाँधिबो को भव-गयंद रेनु की रजु बटत॥

परिहरि सुर-मनि सुनाम, गुंजा लखिलटत।

लालच लघु तेरो लखि, तुलसी तेहिं हटत॥

पद-129

काल, कर्म, गुण और स्वभाव - ये सभी के सिरों पर तप रहे हैं . . . . . लोग बिना ही साधनों के सारी सिद्धियाँ पाने के लिए व्याकुल हैं; पर यह कब संभव है ? हाँ, कलियुग का ढेर-का-ढेर बनिज-व्यापार, माल-मत्ता नाम नगर में खप जाता है, अर्थात् कलियुग का पाप-समूह राम-नाम के प्रताप से नष्ट हो जाता है (पद-130)। 'विनय-पत्रिका' में आत्म-समीक्षा के बहाने समाज-समीक्षा और समाज-समीक्षा के बहाने आत्म-समीक्षा का चित्रण हुआ है। राम के चरित्र-रूपी दर्पण में तुलसीदास सिर्फ अपनी ही छवि नहीं देखते, अपितु पूरे समाज की छवि देखते हैं। अच्छे समय में तो सभी के दरवाजे पर नगाड़े बजते हैं, परन्तु हे स्वामी! आपकी प्रभुता से गरीब बुरे समय में भी निहाल हो जाता है -

सुसमय दिन द्वै निसान सबके द्वार बाजै।

कुसमय दसरथ के ! दानि तैं गरीब निवाजै॥

पद-80

कलियुग के ब्याज से तुलसी अपनी वेदना को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। परमार्थ के, स्वर्ग के तथा सांसारिक स्वार्थ के सुख देने वाले और कल्याण कारक जितने (शम, दम, तप, यज्ञ आदि) उपाय हैं, उन सबकी रीतियों को कलियुग ने क्रोध करके लुप्त कर दिया है और अपनी (दम्भ, कपट, निंदा आदि) दुःखदायक कुचालों को चला दिया है। जहाँ-जहाँ यह मन अपना हित देखता है, वहीं नित्य नए दुःख बढ़ते ही जाते हैं -

*जहँ जहँ चित चितवत हित, तहँ नित नव विषाद अधिकाई।* पद-195

रुचि को अच्छी लगने वाली बातें दूर से ही डरकर भाग जाती हैं और जिनको मन नहीं चाहता वे ही अपार चीजें सामने आ जाती हैं। अर्थात् सुख के लिए चेष्टा करने पर भी अपार दुःख ही आते हैं। मन चिंताओं में डूब रहा है, शरीर रोगों के मारे व्याकुल है और वाणी झूठी तथा मलिन हो रही है (सदा असत्य, कठोर और कुवाच्य ही बोलती है), किन्तु यह सब होते हुए भी हे नाथ ! आपके साथ इस तुलसीदास का संबंध और प्रेम ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। (धन्य हैं जो इस प्रकार के अधम के साथ प्रेम का संबंध स्थायी रखते हैं) पद-195

तुलसीदास का मन पूरे समाज की 'तदाकार परिणति' है। उनका मन 'भौंतुवा' बना हुआ है। वे 'अति आरत, अति स्वार्थी, अति दीन दुखारी' की तरह बोल रहे हैं। वे यह भी कहते हैं कि आर्त और स्वार्थी जन पागलों की तरह बकते रहते हैं (पद-178)। जिस तरह सृष्टि को देखनेवाली 'रामचरितमानस' के तुलसीदास की दृष्टि द्वन्द्वात्मक है, उसी तरह 'विनय-पत्रिका' के तुलसीदास अपने मन पर हुए 'संसृति-सन्निपात' का वर्णन द्वन्द्वात्मक रीति से करते हैं -

*दीनबंधु, सुखसिंधु, कृपाकर, कारुणीक रघुराई।*

*सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिविध जुर, करत फिरत बौराई ॥*

*कबहुँ जोगरत, भोग-निरत सठ हठ बियोग-बस होई।*

*कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई ॥*

*संजम, जप, तप, नेम, धरम, ब्रत बहु भेषज-समुदाई।*

*तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहीं जाई ॥*

पद-81

संयम, जप, तप, नेम, धरम आदि विचारधारात्मक उपकरण हैं और मन का धनमय, रिपुमय, नारिमय के रूप में भासना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हैं। इन दोनों के तनाव का चित्रण 'विनय-पत्रिका' के कई पदों में मिलता है -

*सुनहु राम रघुबीर गुसाई, मन अनीति-रत मेरो।*

*चरन-सरोज बिसारि तिहारे, निसि दिन फिरत अनेरो ॥*

*मानत नाहिं निगम-अनुसासन, त्रास न काहू केरो।*



भूल्यो सूल करम-कोलुन्ह तिल ज्यों बहु बारनि पेरो ॥  
 जहँ सतसंग कथा माधवकी, सपनेहुँ करत न फेरो ।  
 लोभ-मोह-मद-काम-कोह-रत, तिन्हसों प्रेम घनेरो ॥  
 साधन-फल, श्रुति-सार नाम तव, भव-सरिता कहँ बेरो ।  
 सो पर-कर काँकिनी लागि सठ, बेंचि होत हठि चरो ॥  
 कबहुँक हौं संगति-प्रभावतें, जाउँ सुमारग नेरो ।  
 तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो ॥  
 इक हौं दीन, मलीन, हीनमति, बिपति जाल अति घेरो ।  
 तापर सहि न जाय करुनानिधि, मनको दुसह दरेरो ॥ पद-143

इस द्वन्द्वात्मक निरूपण का एक पक्ष 'हृदय दहक पछिताय अनल अब, सुनत दुसह भवभीति' (पद-234) है। इसका दूसरा पक्ष 'मंगलाशा' है, जहाँ त्रयताप व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक हो जाता है। पद संख्या 139 में इसका व्यापक वर्णन किया गया है। जिस प्रकार 'मानस' में पृथ्वी के ताप से पीड़ित होकर ब्रह्मा और देवताओं ने स्तुति की थी, उसी तरह कलियुग के आतंक से पीड़ित होकर सम्पूर्ण पृथ्वी की मंगल कामना के लिए तुलसीदास प्रार्थना करते हैं -

दीजै दादि देखि ना तौ बलि, मही मोद-मंगल रितई है ।

भरै भाग अनुराग लोग कहैं, राम कृपा-चितवनि चितई है ॥ पद - 139

कलियुग का त्रास रावण के आतंक से ज्यादा भयावह और यथार्थपरक है; क्योंकि इसने अन्तः- बाह्य दोनों स्तरों पर अपना साम्राज्य कायम कर लिया है। प्रश्नवाचकता, एकाकीपन एवं निर्वासन की पीड़ा से भरे विनयपत्रिका के पद इसी संदर्भ में रचे गए हैं। जब पृथ्वी सूर्य की तरह गर्म एवं लाल हो उठे तो फिर बेचारा जीव एवं मनुष्य जायेगा कहाँ ? तुलसीदास आकुल-व्याकुल होकर पूछ बैठते हैं - 'कहाँ जाऊँ, कासों कहाँ, कौन सुने दीन की' (पद-179) 'कहाँ जाऊँ, कासों कहाँ, और ठौर न मेरे' (पद-149), 'औरु कहँ ठौरु रघुबंस-मनि! मेरे . . . .' (पद-210), 'और मोहि को है काहि कहिहौं ?' (पद-231), 'मेरी कहा चली ? हौं बजाय जय रहयो हौं' (पद-260) आदि। 'विनयपत्रिका' में तुलसीदास बार-बार प्रश्न करते हैं। यह प्रश्न अपने आप से है। अपने इष्ट से है। अपने समय के शासन, समाज और विचारधारा से है। सम्पूर्ण मध्यकालीन साहित्य में इस दृष्टि से यह अद्भुत ग्रंथ है। यहां उल्लेखनीय है कि 'कवितावली' का 'उत्तरकांड' भी एक तरह से 'विनयपत्रिका' का ही पूरक है।

'विनयपत्रिका' में कुल पदों की संख्या-279 है। इसमें करीब 63 पद विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति में हैं। सिद्ध गणेश- 'गाइये गनपति जगबंदन। संकर-सुबन भवानी-नंदन. . . . माँगत

तुलसीदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे से शुरू करके 'बिंदु-माधव' तक की स्तुति की गई है। 'सूर्य-स्तुति' के बाद शिव की स्तुति में करीब ग्यारह पद हैं। शिव तुलसीदास के सम्पूर्ण रचनाकर्म के साक्षी हैं। अतः इनसे बेहिचक याचना की गई है 'को जाँचिये संभुतजि आन' (पद-3), 'दानी कहूँ संकर-सम नाहीं' (पद-4), 'जाँचिये गिरिजायति कासी' (पद-6)। शिव 'औढर-दानि' हैं। इनकी करनी से दुख दुखी हो रहा है और याचकता अकुला जाती है - 'बावरो रावरो नाह भवानी। . . . . दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी' (पद-5)। तुलसीदास खुद भिखारी हैं। अतः 'कस न दीन पर द्रवहु उमावर' (पद-7) कहकर अपनी स्थिति का बोध भी करा दिया गया है। तुलसीदास अपने मार्ग को 'शिव सम्मत मार्ग' कहते हैं। आगे के पदों में भी यह विचार प्रकट हुआ है -

इहै भगति, बैराग्य - ज्ञान यह, हरि-तोषन यह सुभ ब्रत आचरु।

तुलसीदास सिव-मत मारग चहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु॥

पद-205

संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।

अपने भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो॥

पद-226

शिवजी को देखकर वसंत की याद आती है। लेकिन काम की 'भ्रम फांसी' तुलसी को घेर लेती है। 'हे कामारि! इसे काट डालिए' (पद-14)। "कलि को डराने-धमकाने के लिए भीषणमूर्ति भैरव का भी ध्यान किया गया है।" तदन्तर पार्वती, गंगा, यमुना, काशी और चित्रकूट का यशोगान हुआ है। 'देवि' की स्तुति करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि -

मंगल-मुद-सिद्धि-सदनि, पर्वशर्वरीश-वदनि

ताप-तिमिर-तरुण-तरुणि-किरणमालिका।

पद-16

उल्लेखनीय है कि निशाला के विनयगीतों में भी अंधकार दूर करने के लिए प्रकाशस्वरूपा मातृशक्ति से याचना की गई है -

नयन ज्ञान-किरण-कीर्ण

स्नेह देह-दहन-दीर्ण

- अर्चना/2/386

मातः, किरण हाथ प्रातः बढ़ाया

- अर्चना/2/349

माँ, अपने आलोक निखारो,

नर को नरक-त्रास से वारो।

- अर्चना/2/402

तिमिरदारण मिहिर बरसो

- अर्चना/2/352

इसके बाद हनुमान जी की स्तुति में बारह पद हैं। वियोगी हरि के अनुसार - "गोसाईं

जी के यह खास वकील हैं। इनके आगे अपनी सारी व्यथा-कथा खोलकर रख दी है। इनके साथ वे बहुत ही हिले-मिले जान पड़ते हैं। 'ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले' पद में खूब ढिटाई की गयी है।<sup>8</sup> ऐसी कथा है कि विनय के पद रचने की प्रेरणा हनुमान जी से मिली थी। 'हनुमत-स्तुति' के पदों में आत्म-पीड़ा के साथ भक्त हृदय की निश्छलता, विवशता और लघुता की अभिव्यक्ति हुई है। तुलसीदास कहते हैं कि इस कलियुग ने तेरी भक्त वत्सलता, शरणागति की रक्षा के लिए हठकारिता, उदारता आदि गुणों को कील कर दिया — 'जानत हौ कलि तेरेउ मन गुन गन कीले'। इस तरह कलियुग का प्रभाव राम दरबार की महिमा तक पहुँच गया है। निवेदन करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि —

केहि करनी जन जानिकै सनमान किया रे ।

केहि अघ औगुन आपने कर डारि दिया रे॥

पद-33

पहले का सदाचार और आज का पाप बता दीजिए। 'हनुमानबाहुक' में भी तुलसीदास ने अपनी वेदना इसी प्रकार प्रकट की है — 'दोष सुनाये ते आगेहुँ के होसियार है हौं तो हिय हारे'। इसी क्रम में तुलसीदास अपनी वेदना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं —

नाकहि आये नाथसों, साँसति भय भारी ।

कहि आयो, कीबी छमा, निज ओर निहारी॥

पद-34

इसके बाद लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की स्तुति है। आरम्भ में प्रायः हर स्तुति में पहले तुलसीदास अपने इष्ट के मंगल विग्रह का चित्र खींचते हैं, फिर अपनी दुर्दशा का विस्तार से वर्णन करते हैं। लेकिन आगे के पदों में जैसे-जैसे आर्त्ति बढ़ती जाती है अपने इष्ट की छवि का विस्तार से वर्णन करने की जगह व्याकुलता और कृपा प्राप्ति की आकांक्षा का ही अधिक उल्लेख मिलता है। आगे के पदों में कलियुग की जिस विकरालता का वर्णन किया गया है, उसका आरम्भिक रूप स्तुति के पदों में देखा जा सकता है — "हे मुरारे ! यह संसार रूपी वन बड़ा भयानक और गहरा है; इसमें कर्म रूपी वृक्ष बड़ी ही सघनता से लगे हैं, वासना रूपी लताएँ लिपट रही हैं और व्याकुलता रूपी अनेक पैने काँटे बिछ रहे हैं, इस प्रकार यह सघन वृक्ष-समूहों का महाघोर वन है।। इस वन में, चित्त की जो अनेक प्रकार की वृत्तियाँ हैं, सो मांसाहारी बाज, उल्लू, काक, बगुले और गिद्ध आदि पक्षियों का समूह है। ये सभी बड़े दुष्ट और छल करने में निपुण हैं। कोई छिद्र देखते ही यह जीवरूपी यात्रियों के मन को सदा दुःख दिया करते हैं।। . . . . . इस संसार-वन में बहनेवाली वासना रूपी भव-नदी बड़ी ही भयंकर और अथाह है, जिसमें पापरूपी जल, भरा हुआ है, जिसकी ओर देखना सहज नहीं, इसका पार करना बहुत ही कठिन है; क्योंकि यह अपार है। इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सररूपी छः मगर हैं, इन्द्रिय रूपी घड़ियाल और भँवर भरे पड़े हैं। शुभ-अशुभ कर्म रूपी इसके दो तीर हैं, इसमें दुःखों की

तीव्र धारा बह रही है।।" पद-59

यहाँ उल्लेखनीय है कि निराला के विनय गीतों में भी इसी तरह की भयावहता और विकरालता प्रकट हुई है। यह निराला के समय का 'दूसरा कलियुग' है, जो उनके विनय गीतों का प्रतिपक्ष है -

शिशिर की शर्वरी,

हिंस्र पशुओं भरी।

ऐसी दशा विश्व की विमल लोचनों,

देखी, जगा त्रास, हृदय संकोचनों

काँपा कि नाची निराशा दिगम्बरी। - निराला रचनावली-2, अर्चना, पृ0-349

निविड़ विपिन, पथ अराल;

भरे हिंस्र जन्तु-व्याल।

- निराला रचनावली-2, अर्चना, पृ0-366-67

निराला भी तुलसीदास की तरह भयानक और हिंस्र पशुओं से भरे हुए वन देखते हैं। जिस तरह तुलसीदास को भयंकर 'भव-नदी' दिखायी पड़ती है और उसका पार करना उन्हें कठिन लग रहा है, उसी तरह निराला भी लिखते हैं-

जग की दुर्गम बाधाओं से

मुझे बचाओ तुम, नाओं से

जैसे स्रोत-भँवर को तरकर

नाविक खे लाते हैं अक्षर।

-निराला रचनावली,-2, अर्चना, पृ0-376

रामचंद्र शुक्ल के अनुसार - "भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं रह जाता है। भक्ति के बदले उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिए भक्ति का आनंद ही उसका फल है। वह शक्ति, सौन्दर्य और शील के अनंत समुद्र के तट पर खड़ा होकर लहरें लेने में ही जीवन का परम फल मानता है।" 9 बिन्दु-माधव की स्तुति करते हुए तुलसीदास ने लिखा है -

इहै परम फलु, परम बड़ाई।

नखसिख रुचिर बिंदुमाधव छबि निरखहिं नयन अघाई।।

पद-62

स्तुति के पदों में अनन्य प्रेम के लिए चातक का आदर्श तुलसीदास अपने सामने रखते हैं। यह 'निरुपाधि नेम' की याचना है -

देहिमा, मोहि पन प्रेम यह नेम निज, राम घनश्याम तुलसी पपीहा।।

-

पद-15

कबहुँ समय सुधि दायबी, मेरी मातु जानकी।

जन कहाइ नाम लेत हों, किये पन चातक ज्यों, प्यास प्रेम-पान की॥

—पद—42

राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।

रामनाम-नवनेह-मेहको, मन ! हटि होहि पपीहा॥

सब साधन-फल कूप-सरित-सर, सागर-सलिल-निरासा।

रामनाम-रति-स्वाति-सुधा-सुभ-सीकर प्रेमपियासा॥

पद-65

लेकिन जैसे-जैसे 'विनय-पत्रिका' की रचना-प्रक्रिया आगे बढ़ती है, तुलसीदास से चातक के आदर्श का परिपालन नहीं हो पाता। वे धरना देकर श्रीराम के द्वार पर बैठ जाते हैं -

द्वार हों भोर ही को आजु।

रटत रिरिहा आरि और न, कौर ही तें काजु॥

.....  
जनमको भूखो भिखारी हों गरीब निवाजु।

पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति-सुधा सुनाजु॥

पद-219

करिय सँभार, कोसलराय !

और ठौर न और गति, अवलंब नाम बिहाय॥

पद-220

पन करि हों हटि आजुतें रामद्वार पर्यो हों।

'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहों न जनमभरि, प्रभुकी सौंकरि निर्यो हों॥

दै दै धक्का जमभट थके, टारे न टर्यो हों।

उदर दुसह साँसति सही बहुबार जनमि जग, नरक निदरि निकर्यो हों॥

हों मचला लै छाड़िहों, जेहि लागि अर्यो हों।

तुम दयालु, बनिहै दिये, बलि, बिलंब न कीजिये, जात गलानि गर्यो हों॥

प्रगट कहत जो सकुचिये, अपराध-भर्यो हों।

तौ मनमें अपनाइये, तुलसीहि कृपा करि, कलि बिलोकि हहर्यो हों॥

पद-267

इस प्रकार तुलसीदास सिर्फ परम्परागत साधनों को ही अपर्याप्त नहीं बताते हैं, अपितु अपने द्वारा बनाये गये प्रतिमान को भी तोड़ डालते हैं।

स्तुति के पदों में दरबार के एक-एक मुसाहिबों को साधा गया है ताकि 'अर्जी' 'दाखिल दफ्तर' न हो जाये।<sup>10</sup> वन्दना-समुच्चय के बाद तुलसीदास रामभक्ति के लिए अपने आप को

तैयार करते हैं --

राम-नाम तुलसी को जीवन-अधार रे। पद-67

रामनाम ही की गति जैसे जल मीनको। पद-68

राम-नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे। पद-73

इस तैयारी के बाद तुलसीदास अपना परिचय देते हैं --

रामको गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम पद-76

इसी क्रम में राम से आश्वासन-प्राप्ति का उल्लेख भी करते हैं --

बूझ्यौं ज्यौं ही, कह्यो, मैं हूँ चरो हैवहौं रावरोजू

मेरो कोऊ कहूँ नाहिं, चरन गहत हौं।

मीजो गुरु पीठ, अपनाइ गहि बाँह, बोलि

सेवक-सुखद, सदा बिरद बहत हौं।। पद-76

'विनय-पत्रिका' में बेचैनी और ताप का अनुभव व्यापक रूप से अभिव्यक्त हुआ है, लेकिन बीच-बीच में श्रीराम से अपना परिचय और कृपा-प्राप्ति की अनुभूति का वर्णन भी तुलसीदास ने किया है। इस अनुभव का सम्बल ही उनके जीवन का आधार है। चाहें तो इस तरह के पदों को तुलसी की यात्रा का क्षणिक विश्राम-स्थल कह सकते हैं या फिर 'मृग-मरीचिका', जैसा कि रामविलास शर्मा ने निराला के विनय गीतों में अन्तर्निहित इस तरह की अनुभूति के विषय में कहा है। 'विनय-पत्रिका' में तुलसीदास ने अपनी अनुभूति के क्षणों को जगह-जगह अभिव्यक्त किया है। उल्लेखनीय है कि कृपा की अनुभूति के सार्वजनिक वर्णन के आधार पर दूधनाथ सिंह ने निराला को भक्त कवियों की परम्परा से अलग माना है, किन्तु यह उचित नहीं है। तुलसीदास सिर्फ व्यक्तिगत ही नहीं, अपितु सार्वजनिक जीवन पर कृपा प्राप्ति की अनुभूति का वर्णन करते हैं। इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेख अध्याय द्वितीय में किया जा चुका है। इसकी पुष्टि के लिए कुछ और पद द्रष्टव्य हैं --

मन-मलीन, कलि किल बिषी होत सुनत जासु कृत-काज।

सो तुलसी कियो आपुनो रघुबीर गरीब-निवाज।। पद-191

पेखि प्रीति-प्रतीति जन पर अगुन अनघ अमाय।

दास तुलसी कहत मुनिगन, 'जयति जय उरुगाय'।। पद-220

भये बजाइ दाहिने जो जपि तुलसिदास से बामो। पद-228

को तुलसी से कुसेवक संग्रह्यो, सठ सब दिन साईं द्रोहै। पद-230

तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीति-प्रतीति बिना हू। पद-275

परिचय के बाद पद संख्या 84 से सीधे मन का सम्बोधन हुआ है। साधना में सबसे बड़ा बाधक यह मन ही है। मनोविजय की दृढ़ संकल्पमयी साधना में तुलसीदास ने सारा जीवन खपा दिया –

जनम जनम हौं मन जित्यो, अब मोहि जितै हो।

हौं सनाथ हैवहौ सही, तुमहू अनाथपति, जो लघुतहि न भितैहो॥ पद-270

“जन्म जन्म में मुझे मन ने जीता है, इस बार मुझे जिताओगे ? इस कातर प्रार्थना के पीछे जन्म जन्म में सहे लांछन-उपहास-कष्ट की कितनी मर्मन्तुद वेदना है। इस बार प्रभु-कृपा से उनमें मुक्ति पाने का संकल्प है।”<sup>11</sup> इसी प्रार्थना में मन से लगातार हारते रहने की निष्कपट अभिव्यक्ति भी छिपी हुई है। विष्णुकांत शास्त्री ने ‘विनय-पत्रिका’ के विशेष सन्दर्भ में मन की बनावट की विवेचना करते हुए लिखा है – “मन इंद्रियों द्वारा उपलब्ध ज्ञान को वर्गीकृत कर आत्मा के पास पहुँचाता है और आंतरिक निर्णयों को इंद्रियों के द्वारा कार्यान्वित कराता है। इस प्रकार वह बाह्य वस्तुओं का तद्वत् बोध नहीं करता वरन् वस्तुओं के मनोमय रूप बनाकर रागद्वेष के कारण उन्हें ग्राह्य, त्याज्य या उपेक्षणीय मान बैठता है। वह बाह्य जगत् से भिन्न मनोमय जगत् की रचना कर उसके प्रति रागद्वेष का पोषण कर जीव को बाँधता है।”<sup>12</sup> मन को शिक्षा देते समय इसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का खूब ध्यान रखा गया है। मन ही शरीर के रूप में भी प्रकट होता है। इस मन में कई शरीर छिपे रहते हैं – ‘एक गाँठ कई फेरे।’ “मन्यते बुध्यते अनेन इति मनः’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी मन का अर्थ है मनन का साधन अर्थात् प्राणियों की वह शक्ति जिसके द्वारा उनको वेदना, संकल्प, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, बोध और विचार आदि का अनुभव होता है। इसी व्यापक अर्थ में तुलसीदास ने मन का प्रयोग किया है। प्रायः इसी के समशील अर्थ में ‘चित्त’ और ‘हृदय’ का भी प्रयोग किया है।”<sup>13</sup>

‘पंचदशी’ में मनोमय द्वैत दो प्रकार का बताया गया है – ‘ईश्वरकृत और जीवकृत।’<sup>14</sup> वास्तविक बंधन जीवकृत द्वैत है जो मनोमय जगत् के कारण उत्पन्न होता है। इसी द्वैत के कारण कोई पदार्थ सुखमय या दुःखमय प्रतीत होता है और इसी रागद्वेष के कारण जीव बंधनग्रस्त होता है। मन का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह हरिपद सुख का परित्याग कर विषयासक्त हो गया है। अपनी इस वेदना को तुलसीदास ने जगह-जगह प्रकट किया है –

ऐसी मूढ़ता या मन की।

परिहरि रामभगति-सुरसरिता आस करत ओसकन की॥

पद-90

निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो॥

पद-88

चरन-सरोज बिसारि तिहारे, निसिदिन फिरत अनेरो॥

पद-143

सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जन खोयो।

पद-245

मन की इस सोचनीय परिणति का सारा दोष तुलसीदास अपना मानते हैं, उसे विधाता, देश, काल, कर्म, स्वभाव आदि के माथे नहीं थोपते —

हे हरि ! कवन दोष तोहिं दीजै ।

जेहि उपाय सपनेहुँ दुरलभ गति, सोइ निसि-बासर कीजै ॥ — पद-117

कैसे देउँ नाथहिं खोरि ।

काम-लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि ॥ — पद-158

है प्रभु ! मेरोई सब दोसु ।

सीलसिंधु कृपालु नाथ अनाथ आरत — पोसु — पद-159

मन के इस सारें प्रपंच को 'भ्रम' के अंतर्गत रखा जा सकता है। 'भ्रम' से मुक्ति के लिए कई पदों में प्रार्थना की गई है। 'हे हरि ! कवन जतन भ्रम भागै' (पद-119), 'हे हरि ! कवन जतन सुख मानहु' (पद-118), 'हे हरि ! कस न हरहु भ्रम भारी' (पद-120), 'हे हरि ! यह भ्रम की अधिकाई' (पद-121), 'हे हरि ! कौन दोष तोहिं दीजै' (पद-117) जैसे पदों में अपनी इसी वेदना को तुलसीदास ने अभिव्यक्त किया है।

मन से ही जुड़ी हुई चीज मनोरथ है। सुप्रसिद्ध टीकाकार भक्तवर बैजनाथ जी ने विनय की सात भूमिकाएँ मानी हैं, जिनके अन्तर्गत प्रायः विनय-सम्बन्धी सभी पद आ जाते हैं। उदाहरण-सहित उनके नाम हैं —

दीनता — केहि बिधि देउँ नाथहिं खोरि ?

मानमर्षता — काहे ते हरि, मोहिं बिसार्यो ?

भयदर्शना — राम कहत च्लु, राम कहत —

भर्त्सना — ऐसी मूढता या मन की।

आश्वासन — ऐसे राम दीन-हितकारी।

मनोराज्य — कबहुँक हौं इहि रहनि रहौंगो ?

विचारणा — केसव, कहि न जाइ का कहिए ।

किसी पद में स्वामी का प्रभुत्व, तो किसी में सौहार्द और किसी में औदार्य एवं शील अभिव्यक्त किया गया है। किसी पद में जीव का असामर्थ्य, किसी में आत्मग्लानि और किसी में मनोराज्य दिखाया गया है। किसी पद में अपनी राम-कहानी सुनाई गई है तो किसी में अत्याचार-पीड़ित मानव-समाज का प्रतिनिधित्व किया गया है।<sup>15</sup> विष्णुकांत शास्त्री 'मनोराज्य' की जगह 'मनोरथ' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। 'अध्याय-द्वितीय' में संकल्प प्रधान मनोरथ और भगवत् लालसापरक मनोरथ की चर्चा की जा चुकी है। तुलसीदास का मनोरथ क्या है —



मनोरथ मनको एकै भाँति ।

चाहत मुनि-मन-अगम सुकृति-फल, मनसा अघ न अघाति ॥

पद-233

समूची 'विनय-पत्रिका' में मनोरथ से शुरू होनेवाला एक ही पद है। इस पर विष्णुकांत शास्त्री की टिप्पणी है - "तुलसीदास ने अपने मनोरथों की दिशा और उनकी पूर्ति में पड़नेवाले अन्तरायों का स्पष्ट संकेत उपर्युक्त पंक्तियों में दिया है। वे कहते हैं कि मेरे मनोरथ अनेकानेक भांगिमाओं में, विविध शैलियों में भले व्यक्त हुए हों पर वे सब के सब मूलतः एक ही प्रकार के हैं।" <sup>16</sup>

तुलसीदास जहाँ कहीं अपने मनोरथ को व्यक्त करना चाहते हैं अनिश्चय, उलझन, आशंका से ग्रस्त हो उठते हैं - 'रंक-राज ज्यों मनको मनोरथ, कहि सुनाइ सुख लहिहौं' (पद-231), 'रघुबरहि कबहुँ मन लागिहै' (पद-224), 'कबहिं देखाइहौ हरि चरन' (पद-218), 'राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीनको' (पद-269), 'ज्यों मन कबहुँ तुमहिं न लाग्यो' (पद-170), 'मैं हरि, साधन करइ न जानी' (पद-122), 'मेरो मन हरिजू ! हठ न तजै' (पद-89) जैसे कई पदों में यह भावना अभिव्यक्त हुई है।

रूप गोस्वामीपाद ने स्कन्दपुराण का साक्ष्य देते हुए 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में बताया है कि भगवान को लक्ष्य करके वाणी से जो कुछ विज्ञापन या उद्गार प्रकट किये जाते हैं उनसे मोक्ष के द्वार की अर्गला खुल जाती है। रूप गोस्वामी के अनुसार ये विज्ञप्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं :- 'सम्प्रार्थनात्मिका, दैन्यबोधिका, लालसामयी' भक्तों के मनोरथ मुख्यतः लालसामयी विज्ञप्ति के ही अन्तर्गत आते हैं क्योंकि उनमें भगवत्सम्बन्धी उनकी लालसा ही प्रधान रूप से अभिव्यक्त होती है। <sup>17</sup> 'विनय-पत्रिका' में तुलसीदास ने यह लालसा प्रकट की है कि -

खेलिबे को खग-मृग, तरु-कंकर हवै रावरो राम हौं रहिहौं ।

यहि नाते नरकहुँ सचु या बिनु परमपद हुँ दुख दहिहौं ॥

इतनी जिय लालसा दास के, कहत पानही गहिहौं ।

दीजै बचन कि हृदय आनिये तुलसी को पन निर्बहिहौं ॥

- पद-231

तुलसी के मनोरथों का अंगी तत्त्व प्रभु श्रीराम की निष्काम भक्ति की याचना है। उनका विश्वास था कि भक्ति कृपा साध्य है, 'रघुपति कृपाँ भगति पाई' (रामचरितमानस 1/210/5)। संतों की कृपा भी भक्ति दे सकती है किन्तु सच्चे सन्त तो भगवत्कृपा से ही मिलते हैं, 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि ते ही। चितवहिं राम कृपा करि जेही' (रामचरितमानस 7/68/7)। अतः भक्ति पाने का मुख्य और अचूक स्रोत स्वयं श्रीराम हैं। तुलसीदास यह भी जानते हैं कि राम मनोरथ कल्पतरु हैं। उन्होंने श्रीराम से 'मानस' में बार-बार कहलाया है, 'जो कछु रुचि तुम्हरे

मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं' (वही-1 / 150 / 2), 'मोरे नहिं अदेय कछु तो ही' आदि। तुलसीदास प्रभु से निवेदन यह करते हैं कि आप महादानी हैं, कुछ भी दे सकते हैं, यह तो ठीक है किन्तु याचक को सर्वाधिक संतोष तो तब होता है जब उसकी रुचि के अनुसार दान मिलता है। अतः उनकी प्रार्थना है, 'तुलसीदास जाचकरुचि जानि दान दी जै। रामचंद्र चंद्र तू चकोर मोहिं कीजै' (विनय-पत्रिका, पद-80)।<sup>18</sup> संकल्प साधन है और लालसा साध्य। तुलसीदास का मनोरथ इन्हीं दो छोरों के बीच घूमता रहता है। उनका संकल्प है, 'कबहुँक हों यहि रहनि रहौंगो' और लालसा है - 'तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय-बबाके' (पद-225)। कह सकते हैं कि "तुलसी के मनोरथों के वृत्त में यदि केन्द्र प्रभु की निष्काम भक्ति-प्राप्ति का है तो परिधि कृपा प्राप्ति की है।"<sup>19</sup>

तुलसीदास ने यह विचार बार-बार अभिव्यक्त किया है कि राम की भक्ति अत्यंत सुलभ और सहज है। 'विनय-पत्रिका' में भी वे कहते हैं -

तुलसी सहज सनेह राम बस, और सबै जल की चिकनाई। - पद-240

तोसो हों फिरि फिरि हित, प्रिय, पुनीत सत्य बचन कहत।

सुनि मन, गुनि, समुझि, क्यों न सुगम सुमग गहत।। - पद-133

लेकिन यह 'सहज सनेह' उतना आसान नहीं है। तुलसीदास को अफसोस होता है -

सहज सनेही रामसों तैं कियो न सहज सनेह।

तातें भव-भाजन भयो, सुनु अजहुँ सिखावन एह।। - पद-190

यह वैसे ही है जैसे दर्पण में दीख रहा मुख का प्रतिबिम्ब वास्तव में दर्पण में नहीं होता। इसीलिए यह कहने में सुगम और करने में अगम है -

रघुपति-भगति करत कठिनाई।

कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ-जेहि बनि आई।।

जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।

सफरी सनमुख जल-प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी।। - पद-167

सहज की इस अगमता का उल्लेख तुलसी बार-बार करते हुए अपने को असमर्थ घोषित करते हैं -

जो पै राम-चरन-रति होती।

तौ कत त्रिबिध सूल निसिबासर सहते बिपति निसोती।। - पद-168

जो मोहि राम लागते मीटे।

तौ नवरस षटरस-रस अनरस हवै जाते सब सीटे।। - पद-169

की जै मोको जमजातनामई।

राम ! तुमसे सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठि दई ॥

गरभबास दस मास पालि पितु-मातु-रूप हित कीन्हों ।

जड़हिं बिबेक, सुसील खलहिं, अपराधिहिं आदर दीन्हों ॥

— पद-171

तुलसीदास की समस्या यह है कि इस सुगमता और अगमता को साधा कैसे जाय ? इस सिलसिले में 'जाके प्रिय न राम बैदेही . . . . . एतो मतो हमारो' को देखकर यह भी लगता है कि वे सब का निषेध कर देते हैं। राम और जगत में विरोध दिखाई पड़ेगा। लेकिन तुलसीदास के यहाँ दोनों का समन्वय है। यह समन्वय इस कथन से प्रकट होता है —

को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर पर धामको ।

तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को ॥

— पद-155

यदि समस्त वृत्तियों को रामोन्मुख कर दिया जाय तो राम और जगत का विरोध मिट जायेगा। इसलिए तुलसीदास सब राम को सौंप देते हैं — 'यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं' (पद-104)। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है — "भक्ति की साधना का तात्पर्य है जगत् के प्रवाह से तटस्थ होना। यह तटस्थता जगत् के द्वारा माने जाने का हेतु होगी।" <sup>20</sup> राम की स्वीकृति जगत् की स्वीकृति है। तुलसीदास इसका उल्लेख भी करते हैं —

राम सोहाते तोहिं जौ तू सबहिं सोहातो ।

काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो ॥

— पद-151

अब प्रश्न यह है कि भक्ति की अगमता क्या है ? "भक्ति मार्ग अन्य मार्गों से सुगम है पर उसकी साधना शील की पराकाष्ठा तक जाने के कारण कठिन है।" <sup>21</sup> रामविलास शर्मा के अनुसार — "विनय पत्रिका के तुलसी की छाप भरत के चरित्र पर है।" <sup>22</sup> 'मानस' में भरत के चरित्र में शील की पराकाष्ठा दिखाई गई है। लज्जा, ग्लानि, पश्चाताप, लोकभीरुता, रनेहार्रता का प्रवाह भरत के चरित्र में दिखाई पड़ता है —

मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ । अपराधिहुँ पर कोह न काऊ ॥

मो पर कृपा सनेह बिसेखी । खेलत खुलिस न कबहुँ देखी ॥

मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही । हारेहु खेल जितावहिं मोही ॥

महुँ सनेह सकोच बस सनमुख कहेउ न बैन ।

दरसन तृपित न आजु लागि प्रेम पियासे नैन ॥

बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा । नीच बीच जननी मिस पारा ॥

यहउ कहत मोहि आजु न सोभा । अपनी समुझि साधु सुचि को भा ॥

मातु मंद, मैं साधु सुचाली । उर अस आनत कोटि कुचाली ॥ <sup>23</sup>

आचार्य शुक्ल के अनुसार – “नियम और शील धर्म के दो अंग हैं। नियम का सम्बन्ध विवेक से है और शील का हृदय से।”<sup>24</sup> अपने अंतःकरण की स्वच्छता का प्रमाण देने के लिए जिस तरह भरत कहते हैं –

जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥  
 ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जाँ यहु होइ मोर मत माता॥  
 जे परिहरि हरि हर चरन भजहि भूतगन घोर।  
 तेहि कइ गति मोहि देउ बिधि जाँ जननी मत मोर॥

– मानस, अयोध्याकाण्ड दोहा-चौपाई-167

‘विनय-पत्रिका’ में अपनी भावना की स्वच्छता के प्रमाण में तुलसीदास कहते हैं –

साँचे परों, पाऊँ पान, पंचमें पन प्रमान, तुलसी चातक आस राम स्यामघन की॥

– पद-75

गरैगी जीह जो कहों औरको हों।

जानकी-जीवन ! जनम-जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौरको हों॥ – पद-229

संकर साखि जो राखि कहों कछु तौ जरि जीह गरो।

अपनो भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो॥ – पद-226

इसी क्रम में यह भाव भी व्यक्त हुआ है कि हे, प्रभो ! मैंने आप जैसे सुहृद से पीठ फेर लिया; अतः मुझे यम-यातना दीजिए –

कीजै मोको जमजातनामई।

राम ! तुमसे सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठि दई॥

एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आये, अरु करिहैं।

तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनौड़ो भरिहैं॥ – पद-171

कहीं तुलसीदास अपनी ग्लानि से गल रहे हैं; ‘तुलसी पै चाहत ग्लानि ही गरन’ (पद-248), कहीं उन्हें यह लगता है कि सब दोष मेरा ही है। प्रभु तो शील के समुद्र, अनाथों के नाथ और दीन दुखियों के पालने – पोसनेवाले हैं –

हैं प्रभु ! मेरोई सब दोसु।

शीलसिंधु कृपालु नाथ अनाथ आरत-पोसु॥ – पद-159

कभी बाल-भाव से पूछ बैठते हैं – हे, गरीब निवाज ! क्या मुझे कभी आप अपनायेंगे –

आपनो कबहुँ करि जानिहौ।

शील-सिंधु, सुंदर, सब लायक, समरथ, सदगुन-खानि हौ।

पाल्यो है, पालत, पालहुगो प्रभु, प्रनत-प्रेम पहिचानिहौ।।

— पद-223

हे, नाथ ! बलिहारी ! आप उखड़े हुए जीव को फिर से बसानेवाले हैं। आपका नाम लेते ही ऊसर खेत भी उपजाऊ हो जाता है। आपकी यह बिरदावली सच्ची है —

साँची बिरुदावली न बढ़ि कहि गई है।

शीलसिंधु ! ढील तुलसी की बेर भई है।।

— पद-180

प्रभु के अनंत शील के सामने तुलसीदास के पास सिर्फ निर्लज्जता है —

खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु, /रीझिवे लायक तुलसी की निलजई।।

— पद-252

प्रभु का शील ही भक्त के लिए भरोसा देनेवाली चीज है —

तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब, नाउ रामपद — कमल माथ।

जनि डरपहि तोसे अनेक खल, अपनाये जानकी नाथ।।

— पद-84

तुलसीदास के शील निरूपण की पद्धति पर आचार्य शुक्ल ने लिखा है — “. . . . . हमारे गोस्वामी जी का प्रेम दूसरे प्रकार का था — वह पूज्यबुद्धि गर्भित होकर भक्ति के रूप में था। उच्चता की जैसी प्राप्ति उच्च को आत्मसमर्पण करने से हो सकती है, वैसी समान को आत्मसमर्पण करने से नहीं। . . . . शील बाबाजी द्वारा निरूपित भक्ति के आलंबन के स्वरूप के — आश्रयंतर स्वरूप के सही — अंतर्गत है। भक्ति और शील की परस्पर स्थिति ठीक उसी प्रकार बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से है जिस प्रकार आश्रय और आलंबन की। और आगे चलिए तो आश्रय और आलंबन की परस्पर स्थिति भी ठीक वही मिलती है जो ज्ञाता और ज्ञेय की है। हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि जो ज्ञान क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है, वही भाव क्षेत्र में आश्रय और आलंबन है। ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भाव की उसी चरम सीमा पर जाकर आश्रय और आलंबन भी एक हो जाते हैं।”<sup>25</sup> शील की यह साधना नहीं हुई तो जीवन बेकार रहा। लज्जा, ग्लानि, पश्चाताप और मंगलाशा से भरी हुई अभिव्यक्ति जगह-जगह प्रकट हुई है —

सेये नहिं सीतापति-सेवक, साधु सुमति भलि भगति भाय।

सुने न पुलकि तनु, कहे न मुदित मन किये जे चरित रघुबंसराय।। — पद-83

कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन, को नहिं कियो अजाची।

अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस-पिसाची।।

— पद-163

सजल नयन, गदगद गिरा, गहबर मन, पुलक सररीर।

गावत गुनगन रामके कोहिकी न मिटी भव-भीर।।

प्रभु कृतग्य सरबग्य हैं, परिहरू पाछिली गलानि।

तुलसी तोसों रामसों कछु नई न जान-पहिचानि।।

— पद-193

सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ।।

— पद-100

वियोगी हरि ने 'विनय-पत्रिका' के दो भाग किये हैं। पद संख्या 1 से 136 तक पूर्वार्द्ध और 137 से 279 तक उत्तरार्द्ध। अपने 'वक्तव्य' में उन्होंने इस विभाजन के आधार की चर्चा नहीं की है। शायद इस विभाजन का आधार पद संख्या-136 है, जिसमें जीव यात्रा के विभिन्न कष्टों का 12 उपपदों में उल्लेख करते हुए निष्कर्ष स्वरूप 'यह जानि तुलसीदास त्रासहरन रमापति गाइये' का संकल्प व्यक्त किया गया है। लेकिन पूरे ग्रंथ को देखते हुए यह विभाजन अधिक तर्क संगत नहीं जान पड़ता। स्तुति के पदों के बाद ही 'विनयावली' शुरू हो जाती है — 'कस न करहु करुना हरे ! दुखहरन मुरारि' (पद-109), 'जो न द्रवहु रघुबीर धीर' (पद-110), 'केसव ! कारन कौन गुसाई' (पद-112), 'माधव ! अब न द्रवहु केहि लेखे' (पद-113), 'माधव ! मो समान जग माहीं' (पद-114) जैसे कई पदों में किसी सैद्धांतिक विवेचना की जगह कातर प्रार्थना की गई है। पद संख्या-134 में ही तुलसीदास सब छोड़-छाड़कर प्रभु श्रीराम के दरवाजे पर पहुँच जाते हैं —

ताते हौं बार बार देव ! द्वार परि पुकार करत।

आरति, नति, दीनता कहें प्रभु संकट हरत।।

— पद-134

तुलसीदास कभी अपने मन को देखते हैं, कभी प्रभु कृपा की ओर तो कभी जगत् की ओर। यह क्रम पूरी 'विनय-पत्रिका' में है। आत्मोन्मुखता, फिर बहिर्मुख होकर जगत् की समीक्षा और अंततः कृपा की आकांक्षा — यह प्रक्रिया साद्यन्त देखी जा सकती है। अतः पद संख्या-137 से वास्तविक 'विनय-खण्ड' की शुरुआत मानकर उसे 'उत्तरार्द्ध' कहना उचित नहीं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार — "आत्मग्लानि का उदय शुद्ध और सात्त्विक अंतःकरण में ही हो सकता है, अतः भरत से बढ़कर उपयुक्त आश्रय उसके लिये और कहाँ मिल सकता है ? आत्मग्लानि नामक मानसिक शैथिल्य या तो अपनी बुराई का अनुभव आप करने से होता है अथवा किसी बुरे प्रसंग के साथ अपना संबंध लोक में दिखाई पड़ने से उत्पन्न हीनता का अनुभव करने से। भरत जी को ग्लानि थी दूसरे प्रकार की, पर बड़ी सच्ची और बड़ी गहरी थी।"<sup>26</sup> तुलसीदास की आत्मग्लानि दोनों तरह की है। वे अपनी बुराई का अनुभव अपने आप भी करते हैं और लोक-सम्बन्ध की दृष्टि से उत्पन्न हीनता का भी अनुभव करते हैं। इस आत्मग्लानि की वजह से ही वे बार-बार अपने असमंजस का जिक्र करते चलते हैं — 'रहनि आन बिधि कहिय आन हरिपद-सच पाइय कैसे !' इस भाव को उन्होंने कई जगह अभिव्यक्त किया है —

रामचंद्र ! रघुनायक तुमसों हों बिनती केहि भाँति करौं ।  
 अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमानि डरौं ॥  
 पर-दुख दुखी सुखी पर-सुख ते, संत-सील नहिं हृदय धरौं ।  
 देखि आनकी बिपति परम सुख, सुनि संपति बिनु आगि जरौं ॥ — पद-141  
 सकुचत हौं अति राम कृपानिधि ! क्यों करि बिनय सुनावौं ।  
 सकल धरम बिपरीत करत, केहि भाँति नाथ ! मन भावौं ॥ — पद -142  
 कृपासिंधु ताते रहौं निसिदिन मन मारे ।  
 महाराज ! लाज आपुही निज जाँघ उघारे ॥ — पद-147  
 कहौं कौन मुँह लाइ कै रघुबीर गुसाई ।  
 सकुचत समुझत आपनी सब साइँ दुहाई ॥ — पद-148  
 जो पै चेराई रामकी करतो न लजातो ।  
 तौ तू दाम कुदाम ज्यों कर-कर न बिकातो ॥ — पद-151

लोक की दृष्टि से तुलसीदास का कष्ट यह है कि दुनिया उन्हें साधु समझती है लेकिन वास्तव में उनका मन कपट से भरा है —

स्वाँग सूधो साधुको, कुचालि कलितें अधिक,  
 परलोक फीकी मति, लोक-रंग-रई ।  
 बड़े कुसमाज राज ! आजुलौं जो पाये दिन,  
 महाराज ! केहू भाँति नाम-ओट लई ॥ — पद-252

तुलसीदास रामबोला हैं । लोग उन्हें रामभक्त समझते हैं, लेकिन उनका हृदय पापपूर्ण और महामलीन है । यही उनका असमंजस है । वे कहते हैं कि मैं दूसरों को यह कहकर समझाता फिरता हूँ कि 'देखो, संसार रूपी नदी के पार जाने के लिए संतजन ही नौका हैं' — किंतु हे हरि ! मैं स्वयं उनसे बड़ी भारी शत्रुता करके आपसे अपना कल्याण चाहता हूँ । अपनी इसी भावना को तुलसीदास ने जगह-जगह अभिव्यक्त किया है—

कैसे देऊँ नाथहिं खोरि ।  
 काम-लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि ॥  
 बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि ।  
 देते सिख सिखयो न मानत, मूढता असि मोरि ॥  
 किये सहित सनहे जे अघ हृदय राखे चोरि ।  
 संग-बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ॥ — पद 158

निर्द्वन्द्वभाव से की गयी आत्म-समीक्षा निर्मम होती है। तुलसीदास को इस बात का अफसोस रह ही जाता है कि उनका मन प्रभु से उस प्रकार के निश्छल भाव से कभी नहीं लगा जिस प्रकार स्वाभाविक रूप से विषयों से लगा रहता है। वे चाहते हैं कि जिस ललक से आँखें पररत्री को देखती हैं, उसी ललक से वे प्रभु के, साधुओं के दर्शन करें। वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं— "यह काम, क्रोध, लोभ, आदि साथी मिले भी रहते हैं और मारना भी चाहते हैं, ऐसे दुष्ट हैं ! ये मेरे बिना रहते भी नहीं और छल करके मेरी ही छाती जलाते हैं। भाव यह कि अपने ही बनकर मारते हैं ॥2॥ ये मेरे हृदय में बसते हैं, मैं ने ऐसा समझकर प्रेमपूर्वक इन सबकी रुचि भी पूरी कर दी है, अर्थात् सब विषय भोग चुका हूँ फिर भी इन दुष्टों और कुचालियों ने मुझे कथक (जादूगर) की लकड़ी बना रखा है ( लकड़ी के इशारे से जैसे नाच नाचते हैं, वैसे ही ये मुझे नचाते हैं ) ॥3॥ ऐसी अपनायत ( आत्मीयता ) तो आजतक मैंने कहीं भी नहीं देखी-सुनी। " 27 (पद 147) । इस तरह के वर्णनों को सिर्फ परम्परागत उदाहरण के रूप में देखना उचित नहीं । इनमें ठोस भौतिक और सांसारिक पीड़ा का स्वर छिपा है। इसी वजह से इन पदों में मार्मिकता और आत्मीयता की झलक मिलती है । तुलसीदास की पीड़ा सिर्फ वहाँ नहीं है जहाँ उनकी लालसा अभिव्यक्त हुई है, अपितु उन चीजों में भी है जिन्हें वे छोड़ना चाहते हैं लेकिन वे छूट नहीं पा रही हैं। 'विनय-पत्रिका' में ऐसे कई पद मिलते हैं जिनमें तुलसीदास के भौतिक जीवन की वेदना, युवावस्था के कष्ट आदि व्यक्त हुए हैं—

नाम राम रावरोई हित मेरे ।

स्वारथ-परमारथ साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे ॥

जननी-जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडरे ।

मोहूँ सो कोउ-कोउ कहत रामहि को, सो प्रसंग के हि करे ॥

फिर्यो ललात बिनु नाम उदर लागि, दुखउ दुखित मोहि हेरे । —पद-227

एकाकीपन और निर्वासन की गहरी अनुभूति तुलसी को रामोन्मुख बनाती है। यह अनुभूति 'विनय-पत्रिका' का मुख्य स्वर है। यह अलगाव परिवेश से विरोध के कारण उत्पन्न हुआ है। इस एकाकीपन से लड़ते हुए तुलसीदास को सहसा यह विश्वास होता है कि 'अब तोहि जान्यो मैं संसार'। लेकिन तुरंत ही उनको आशंका घेरती है और उन्हें लगता है कि संसार में मेरा कोई नहीं । वे बार-बार राम से यह कहते हैं कि मेरा दूसरा कोई नहीं। कहने के इस ढंग में आत्म-निर्वासन की गहरी वेदना छिपी है— 'और काहि माँगिये' (पद 80), 'और मोहि को है, काहि कहिहौं' (पद 231), 'जो पै दूसरो कोउ होइ' (पद 217), 'तुम तजि हौं कासों कहौं' (पद 273) आदि पदों में उनकी यह वेदना प्रकट हुई है। तुलसीदास की एक समस्या यह है कि कौन-सी विनती सुनाऊँ ? विनती कैसे करूँ? और आलम्बन के रूप में राम को छोड़कर दूसरा



है भी नहीं। इस द्वन्द्व के कारण तुलसीदास कह भी नहीं पाते और कहे बिना रह भी नहीं पाते –

कहे बिनु रह्यो न परत, कहे राम! रस न रहत।

तुम से सुसाहिब की ओट जन खोटो-खरो

कालकी, करमकी कुसाँसति सहत ॥

—पद 256

कह्यो न परत, बिनु कहे न रह्यो परत,

बड़ो सुख कहत बड़े सों, बलि, दीनता।

प्रभुकी बड़ाई बड़ी, आपनी छोटाई छोटी,

प्रभुकी पुनीतता, आपनी पाप-पीनता ॥

—पद 262

सब आशा- विश्वास के टूटने के बाद जब उन्हें लगता है कि जीवन व्यर्थ ही चला गया –

डासत ही गइ बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ ! नींद भरि सोयो ।— पद- 245

तब वे आर्त होकर राम से सिर्फ इतना ही कह पाते हैं— 'तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो' (पद 272)। इस वेदना की अनुभूति के कारण तुलसीदास आज भी प्रासंगिक और मूल्यवान हैं।

अध्याय द्वितीय में स्वगत और परगत स्वीकार प्रपत्ति की चर्चा की जा चुकी है। राम को अपनाने के लिए अपनी अपात्रता सिद्ध हो जाने के बाद कृपा के पंथ का अवलोकन ही बचा रह जाता है –

नाथ ! कृपाहीको पंथ चितवत दीन हों दिनराति।

होई धों केहि काल दीनदयालु ! जानि न जाति ॥

आप सहित न आपनो कोउ, बाप ! कठिन कुभाँति।

स्यामघन ! सींचिये तुलसी, सालि सफल सुखाति ॥

— पद-221

केहि आचरन भलो मानें प्रभु सो तौ न जानि पर्यो।

तुलसिदास रधुनाथ-कृपाको जोवत पंथ खर्यो ॥

— पद-239

तुलसीदास की आर्ति वहाँ और बढ़ जाती है, जब इस पथ पर खड़े रहते हुए भी उन्हें लगता है कि उनकी साधना निष्फल और बेकार साबित हुई। यहाँ 'सर्वभूत-हित, निर्बलीक चित, भगति-प्रेम दृढ नेम, एकरस' (पद-204) के खंडित होने का अहसास तो उन्हें घेरता ही है, यह जानकर कि करुणाकर अभी तक द्रवित नहीं हुए, वे और विह्वल हो जाते हैं। वे कहते हैं कि या तो मुझे शरण में रखिये या फिर मार डालिये –

राखिये नीके सुधारि, नीचको डारिये मारि,

दुहँ ओर की बिचारि, अब न निहोरिहों।

तुलसी कहा है साँची रेख बार-बार खाँची,

ढील किये नाम-महिमा की नाव बोरिहों।।

— पद-258

जो चितवनि साँधी लगै, चितइये सबेरे।

तुलसीदास अपनाइये, कीजै न ढील, अब जिवन-अवधि अति नेरे।।

— पद-273

दीजै बचन कि हृदय आनिये 'तुलसीको पन निर्बहिहों'।।

— पद-231

कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत-आरति-हरन।

दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन।।

— पद-218

इस धनीभूत वेदना की अनुभूति के बावजूद तुलसीदास टूटते नहीं। यही उनकी भक्ति और रचनाकर्म की साधना की गाढ़ी कमाई है। आत्म-संघर्ष का यह उतार-चढ़ाव निराला के विनय गीतों में भी परिलक्षित किया जा सकता है। 'तुलसीदास चाहत मरण' की वेदना और करुणकथा की परिणति आशावाद में होती है —

बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि में हूँ लही है'। रघुनाथ

मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथकी, परी रघुनाथहाथ सही है।।

— पद-279

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'विनय-पत्रिका' 'हृदय-पद्धति' की रचना है जिसमें प्रभु के चरम महत्त्व के सामने 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब' भाव से आत्म-समीक्षा की गयी है। यह पूरे भक्तिकाल की आत्म-निवेदनपरक रचनाओं का प्रतिनिधि ग्रंथ है। पहली बार किसी कवि का व्यक्तित्व इतना खुलकर प्रकट हुआ है। तुलसीदास अपने अन्तर्द्वन्द्वों की निर्भय होकर आत्म-समीक्षा करते हैं। उनका 'हाँ' अन्तर्मुखी होते हुए भी अपने समय के व्यापक परिप्रेक्ष्य से जुड़ा हुआ है। 'विनय-पत्रिका' का प्रतिपक्ष कलियुग है जिसका प्रभाव अन्तः और बाह्य दोनों स्तरों पर व्याप्त है। तुलसीदास का 'हाँ' इन दोनों स्तरों पर प्रतिक्रिया करते हुए निर्मित हुआ है। तुलसीदास के आत्म-संघर्ष और अकेलेपन की अनुभूति को समझने की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' का महत्त्व है। यह ग्रंथ इस अर्थ में भी विशिष्ट है कि यह 'मानस' की तरह रामकथा न होकर एक तरह से तुलसीदास की आत्मकथा है। इसमें व्यापक और आत्मीय करुणा के साथ ही अद्भुत ढंग से शील निरूपण हुआ है। कई जगह तुलसीदास की भौतिक वेदना भी मुखरित हुई है। इसमें तुलसीदास सिर्फ परम्परागत साधनों को ही खारिज नहीं करते, अपितु अपने द्वारा बनाये गये चातक के आदर्श को भी तोड़ देते हैं। यह महाकवि की विह्वलता, बेचैनी और वेदना की परकाष्ठा है। कई जगह मरणेच्छा भी व्यक्त हुई है। इसे तुलसीदास की आत्म-समीक्षा और जगत्-समीक्षा कहा जा सकता है। तुलसीदास के सम्पूर्ण आत्म-संघर्ष की परिणति अंततः आस्था में होती है।

1. विष्णुकान्त शास्त्री – तुलसी के हिय हेरि, लोक भारती, इलाहबाद, 1990, पृष्ठ-167
2. रामचंद्र शुक्ल – विनय-पत्रिका हरितोषिणी टीका सहित, संपादक और टीकाकार – वियोगी हरि ; सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृष्ठ-3
3. वियोगी हरि – वही, पृष्ठ-21
4. विष्णुकान्त शास्त्री – तुलसी के हिय हेरि, पृष्ठ-169
5. वही – वही, पृष्ठ-161
6. रामविलास शर्मा – परम्परा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पटना, 1981 ई., पृष्ठ-94
7. वियोगी हरि – विनय-पत्रिका हरितोषिणी टीका सहित, पृष्ठ-9
8. वही – वही, पृष्ठ-9
9. रामचंद्रशुक्ल – वही, पृष्ठ-4
10. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – गोसाईं तुलसीदास, वाणी-वितान प्रकाशन, बह्मनाल, वाराणसी; पृष्ठ-124
11. विष्णुकान्त शास्त्री – तुलसी के हिय हेरि, पृष्ठ-124
12. वही – वही, पृष्ठ-127-128
13. वही – वही, पृष्ठ-127
14. वही – वही, पृष्ठ-128
15. विनय-पत्रिका हरितोषिणी टीका सहित, पृष्ठ-9 पर उद्धृत।
16. विष्णुकान्त शास्त्री – तुलसी के हिय हेरि, पृष्ठ-81
17. तुलसी के हिय हेरि, पृष्ठ 88 पर उद्धृत
18. विष्णुकान्त शास्त्री – तुलसी के हिय हेरि, पृष्ठ-89
19. वही – वही, पृष्ठ-91
20. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – गोसाईं तुलसीदास, पृष्ठ-266
21. वही – वही, पृष्ठ-266
22. रामविलास शर्मा – परम्परा का मूल्यांकन, पृष्ठ-94
23. गोस्वामी तुलसीदास (लेखक रामचंद्र शुक्ल), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सम्वत् 2049 वि. पृष्ठ-77 पर उद्धृत
24. रामचंद्र शुक्ल – गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ-78
25. वही – वही, पृष्ठ- 56
26. वही – वही, पृष्ठ- 61
27. विनय-पत्रिका; गीताप्रेस, गोरखपुर, संख्या 2051, पृष्ठ-192-193